RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-4, सितम्बर अक्टूबर नवम्बर 2024

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 4 सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

✰ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

✰ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

✰ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

✰ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

✰ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

✰ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

✰ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

✰ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा दर्शन

सुर्मिला यादव
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय परंपरा में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग मूल रूप से 'शिक्ष्' धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है विद्या का ग्रहण करना या सीखना। शास्त्रों में शिक्षा केवल जानकारी या ज्ञान तक सीमित नहीं है, बल्कि इसे जीवन के सम्पूर्ण विकास का साधन माना गया है। माण्डूक्योपनिषद् में वेद के चार अंगों के पश्चात आने वाले षड्वेदांगों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शिक्षा का विशेष स्थान है। इन छः अंगों में कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और विच्छित्ति शामिल हैं।

पाणिनीय-शिक्षा शास्त्र में शिक्षा को वेद का घ्राण कहा गया है। जैसे शरीर के सभी अंग सुंदर और परिपूर्ण होने के बावजूद नाक के बिना असंपूर्ण और अशोभनीय लगता है, वैसे ही शिक्षा के बिना वेद का ज्ञान अधूरा और असंपूर्ण होता है। पाणिनीय शास्त्र में शिक्षा को स्वर, वर्ण और उनके उच्चारण की विधियों का उपदेशक माना गया है। इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में विष्णुमित्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शिक्षा वह शास्त्र है जो स्वर, वर्णोच्चारण के स्थान, करण और प्रयत्न को बताता है और उनके सही प्रयोग का ज्ञान कराता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में भी शिक्षा के छः अंगों का उल्लेख मिलता है, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान शामिल हैं। आदिशंकराचार्य ने भी अपने भाष्य-भूमिका में शिक्षा को उसी रूप में समझाया, जिसके द्वारा व्यक्ति वर्णों का सही उच्चारण सीख सके। यह स्पष्ट करता है कि शिक्षा केवल वर्णों और शब्दों तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसका उद्देश्य व्यक्ति के संपूर्ण विकास से जुड़ा हुआ था।

उपनिषद् काल में शिक्षा के माध्यम से केवल शब्दों और उच्चारण का ज्ञान ही नहीं दिया जाता था, बल्कि व्यक्ति के आत्मिक गुणों का विकास भी शिक्षा का अभिन्न अंग था। वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार शिक्षा में दम, दान और दया जैसे गुणों का समावेश भी किया गया था। इन गुणों के विकास के बिना व्यक्ति का भौतिक, दैवीय और आध्यात्मिक जीवन पूर्ण और सफल नहीं हो सकता। इसलिए शिक्षा को जीवन के सम्पूर्ण विकास का सर्वोत्तम साधन माना गया।

'शिक्षा-वल्ली' में स्नातकों के उपदेश-विधान का उद्देश्य व्यक्ति के आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के उत्कर्ष को सुनिश्चित करना था। वैदिक शिक्षा की शुरुआत बुद्धि और मन को प्रेरित करने वाले स्वरूप से की जाती थी। इस संदर्भ में सबसे पहले गायत्री-मंत्र का पाठ किया जाता था, जिसमें भगवान भास्कर के तेजस्वी प्रकाश से प्रार्थना की जाती है कि वे हमारी बुद्धि को प्रकाशित करें, हमारे अंतःकरण में व्याप्त संशयों को दूर करें और हमें 'अभ्युदय और निःश्रेयस्' की प्राप्ति कराएं। यह मंत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में उल्लेखित है।

गायत्री-मंत्र के महत्व को आधुनिक दृष्टि से समझाते हुए श्री अविनाश चन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक 'दी कॉल ऑफ दी वेदाज' में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक महर्षियों ने केवल ज्ञानार्जन तक शिक्षा को सीमित नहीं रखा, बल्कि चित्त की शुद्धता, मन की एकाग्रता और बुद्धि की तीव्रता पर भी बल दिया। इसके लिए केवल अध्ययन ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि यज्ञ, दान और तप का संयोग अनिवार्य माना गया। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य केवल बाह्य ज्ञान अर्जित करना नहीं, बल्कि व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था।

ब्राह्मणयुगीन शिक्षा व्यवस्था में 'वादविवाद और शास्त्रार्थ' की परंपरा को विशेष स्थान प्राप्त था। जोगीराज बासु ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया ऑफ दी ऐज ऑफ दी ब्राह्मणाज' में इस बात का उल्लेख किया है कि ब्रह्मोदय जैसी गोष्ठियों में छात्र पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी के रूप में अनेक बौद्धिक समस्याओं पर विचार करने लगे थे। शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यस्तर पर इस प्रकार के शास्त्रार्थों का आयोजन होता था और विजयी पक्ष को पुरस्कार दिए जाते थे। इस प्रथा से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा केवल ग्रंथ ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि बौद्धिक क्षमता, तर्कशक्ति और विवेचना कौशल के विकास को भी महत्व दिया गया।

भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा केवल ज्ञानार्जन तक सीमित नहीं थी, बल्कि व्यक्ति के जीवन के हर आयाम में उसके विकास का माध्यम मानी जाती थी। ऋग्वेद से संबंधित 'पाणिनीय शिक्षा', शुक्ल यजुर्वेद की 'याज्ञवल्क्य शिक्षा', कृष्ण यजुर्वेद की 'व्यास शिक्षा', सामवेद की 'नारद शिक्षा', तथा अथर्ववेद की 'माण्डुकी शिक्षा' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त अन्य शिक्षा ग्रंथ भी विद्यमान थे, जैसे भारद्वाज शिक्षा, वशिष्ठ शिक्षा, काव्यायनी शिक्षा और पराशरी शिक्षा, जिनमें शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य और पद्धति का विस्तृत वर्णन मिलता है।

पाणिनीय शिक्षा में शिक्षा को वेदांग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें कहा गया है कि वेद के पाद और हस्त अर्थात् शब्द और कर्म, छन्द और कल्प, ज्योतिष और निरुक्त सभी अंगों का अध्ययन आवश्यक है। शिक्षा को वेद का 'घ्राण', अर्थात मुख कहा गया है और व्याकरण को उसका स्मरण, क्योंकि इनकी सहायता से ही वेद का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। पाणिनीय शास्त्र में स्पष्ट किया गया है कि इन अंगों का अध्ययन ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा दिलाता है।

अथर्ववेद में शिक्षा का उद्देश्य यह बताया गया है कि यह व्यक्ति को ज्योतिर्मय और सौभाग्यपूर्ण जीवन प्रदान करती है, संशयों और असमर्थताओं को दूर करके मनुष्य के जीवन में संतोष और उत्थान लाती है। इसी प्रकार, कल्हण ने विद्या की तुलना 'वृक्ष से' की है, जिसका मूर्ख लोग उपहास करते हैं क्योंकि इसकी जड़ें दिखाई नहीं देतीं, लेकिन समय आने पर यह पुष्पित होकर फल प्रदान करती है। विद्या मनुष्य को विपत्तियों और कठिनाइयों से उबारती है।

महाभारतकार ने विद्या का महत्त्व बताते हुए मनुष्य के पांच स्वाभाविक मित्र बताए हैं - विद्या, शौर्य, दाक्ष्य, बल और धैर्य। इनमें विद्या को सबसे प्रमुख माना गया है, क्योंकि ज्ञान के माध्यम से मनुष्य को जीवन की समस्त आवश्यकताएँ प्राप्त होती हैं। गौतम के अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा, संपत्ति, जाति, कर्म, ज्ञान और आयु जैसे तत्व मनुष्य को सम्मान दिलाते हैं, पर इनमें 'ज्ञान ही सर्वोत्तम' है। ज्ञान से ही स्वास्थ्य, गुण और जीवन की श्रेष्ठता संभव होती है।

मनु ने भी विद्या के महत्त्व को अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। उनके अनुसार न वर्षों की

आयु, न बालों का श्वेत होना, न धन या बन्धु मनुष्य को महान बनाते हैं। केवल जो विद्वान है, वही वास्तविक रूप से महान है। यदि कोई युवा होते हुए भी अध्ययनशील और ज्ञानवान है, तो उसे वृद्ध अर्थात ज्ञानवृद्ध माना जाना चाहिए। इस प्रकार वैदिक और शास्त्रीय दृष्टि में ज्ञान और विद्या का महत्त्व किसी भी बाहरी तत्व से ऊपर रखा गया है।

स्मृतिकारों का स्पष्ट मत है कि यदि कोई द्विज वेदों का अल्प अध्ययन भी कर ले, तो उसका जीवन इस लोक में भी श्रेष्ठ होता है और परलोक में भी उसकी गति उत्तम होती है। व्यासस्मृति में कहा गया है कि विधिपूर्वक किया गया वेदमंत्रों का अध्ययन मनुष्य को उन्नति के पथ पर ले जाता है। इसी प्रकार बृहस्पति स्मृति में यह प्रतिपादित किया गया है कि समस्त वेदों का अध्ययन करने से मनुष्य तत्काल ही समस्त दु:खों से मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदाध्ययन को केवल धार्मिक कर्तव्य नहीं, बल्कि जीवन को दु:खरहित और सार्थक बनाने का साधन माना गया है।

विष्णुस्मृति में समाज में सम्मान और मर्यादा की भावना को उजागर करते हुए कहा गया है कि कुछ व्यक्तियों के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए। इनमें वृद्ध, भारवाही व्यक्ति, राजा, स्नातक, स्त्री, रोगी और श्रेष्ठ व्यक्ति सम्मिलित हैं। यह निर्देश इस बात का संकेत देता है कि भारतीय परंपरा में विद्या, आयु, तप और सामाजिक उत्तरदायित्व को विशेष सम्मान प्राप्त था।

आधुनिक विद्वानों में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने उपनिषदों की व्याख्या करते हुए 'अपरा विद्या' और 'परा विद्या' का भेद स्पष्ट किया है। अपरा विद्या के अंतर्गत वेद, शास्त्र और विज्ञानों का ज्ञान आता है, जबकि परा विद्या वह है जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उपनिषदों की दृष्टि में केवल ग्रंथों का पांडित्य पर्याप्त नहीं है। यदि ज्ञान आत्मानुभूति में परिवर्तित न हो, तो वह निष्फल ही माना गया है। इसी भाव को षट्कर्मदीपिका में व्यक्त किया गया है कि केवल पुस्तकों में लिखी विद्या को जपने मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, चाहे करोड़ों कल्प क्यों न बीत जाएँ।

ऋग्वेद और उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि परम तत्त्व स्वयं को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नहीं करता, बल्कि वह अनुभूत जगत् के पीछे छिपा रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को 'वास्तविकता की वास्तविकता' कहा गया है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जगत् तो अनुभवजन्य सत्य है, परन्तु आत्मा ही परम और अंतिम सत्य है, जिसे यह अनुभूत जगत् ढँक लेता है। छान्दोग्य उपनिषद् में शास्त्रों के ज्ञाता और आत्मा के ज्ञाता के बीच भेद करते हुए बताया गया है कि केवल शास्त्रज्ञान पर्याप्त नहीं है। इसका उदाहरण श्वेतकेतु के माध्यम से दिया गया है, जो वेदों का व्यापक ज्ञान रखते हुए भी पुनर्जन्म जैसे गूढ़ प्रश्न को समझने में असमर्थ रहता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में वेदों को गौण स्थान इसलिए दिया गया है, क्योंकि वे मनोमय आत्मा को समर्पित हैं, और परम सत्य की प्राप्ति से पूर्व इस मन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। कठ उपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा को तर्क या बुद्धि के माध्यम से नहीं जाना जा सकता, बल्कि वह केवल अध्यात्मयोग के द्वारा ही अनुभूत होती है। सत्य की प्राप्ति न तो तीव्र बुद्धि से होती है और न ही अत्यधिक अध्ययन से, बल्कि वही व्यक्ति सत्य को प्राप्त करता है जिसकी चेतना ईश्वर में शांत भाव से केंद्रित हो जाती है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार, ईश्वर का अनुभव 'ज्ञानप्रसाद' से होता है, अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से।

पाश्चात्य विचारधारा में जॉन स्टुअर्ट मिल ने शिक्षा के संकुचित अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शिक्षा वह संस्कृति है, जिसे प्रत्येक पीढ़ी जानबूझकर अपनी अगली पीढ़ी को सौंपती है, ताकि वह जीवन-यापन कर सके और समाज द्वारा प्राप्त उन्नति के स्तर से आगे बढ़ सके। इसी संदर्भ में शिक्षा-दर्शन के एक अन्य विचारक टी. रेमाण्ट का मत है कि संकुचित अर्थ में शिक्षा का प्रयोग सामान्य बोलचाल और कानून में किया जाता है। इस अर्थ में शिक्षा व्यक्ति के आत्मिक विकास या वातावरण के स्वाभाविक प्रभावों को सम्मिलित नहीं करती, बल्कि केवल उन नियोजित प्रभावों को ही स्वीकार करती है, जिन्हें समाज के प्रौढ़ सदस्य परिवार, धर्म या राज्य के माध्यम से जानबूझकर अगली पीढ़ी पर डालते हैं।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रहे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहे। शिक्षा को केवल व्यक्तिगत उन्नति तक सीमित नहीं माना गया, बल्कि उसे समाज और राष्ट्र की आत्मा से जोड़ा गया। इसी कारण प्रत्येक विद्यार्थी के लिए धर्म, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन अनिवार्य किया गया था। ब्राह्मण समाज में एक विशेष वर्ग ऐसा था, जिसने संपूर्ण वैदिक साहित्य को कंठस्थ करने और उसे शुद्ध रूप में भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। इस वर्ग के लोगों ने अपना पूरा जीवन वैदिक ग्रंथों की रक्षा, संरक्षण और शिक्षण के लिए समर्पित कर दिया। पवित्र धार्मिक साहित्य की अखंड परंपरा बनाए रखने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का भी त्याग किया।

भारतीय परंपरा में विद्या को केवल जानकारी नहीं, बल्कि प्रकाश और शक्ति का अनंत स्रोत माना गया है। विद्या मनुष्य की भौतिक क्षमता को ही नहीं बढ़ाती, बल्कि उसके मन, बुद्धि और आत्मा को भी परिष्कृत करती है। यह व्यक्ति को जिम्मेदार और योग्य नागरिक बनाती है तथा उसे मर्यादित और सुसंस्कृत जीवन जीने की कला सिखाती है। शिक्षा के द्वारा भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नयन भी संभव होता है, जिससे मनुष्य का जीवन संतुलित और उद्देश्यपूर्ण बनता है।

भारतीय ऋषियों के अनुसार शिक्षा जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा से मनुष्य का जीवन न केवल व्यवस्थित और सुखद बनता है, बल्कि वह सामाजिक और सार्वजनिक मर्यादाओं का पालन करते हुए पूरे समाज के कल्याण में योगदान देता है। विद्या मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाती है और उसे परिवार तथा समाज के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाने योग्य बनाती है। अथर्ववेद के अनुसार विद्या से श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, दीर्घायु और अमृतत्व जैसे गुण प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में धर्म, नैतिकता और सदाचार को अत्यधिक महत्व दिया गया था।

उपनिषदों में शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य 'मुक्ति' को माना गया है। इसी आधार पर शिक्षा को दो रूपों में समझा गया—अपरा और परा विद्या। वेद, वेदांग और उनसे संबंधित समस्त शास्त्र अपरा विद्या के अंतर्गत आते हैं, जो सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थित और अनुशासित बनाते हैं। परा विद्या का संबंध परम सत्य और ब्रह्मज्ञान से है, जो मनुष्य को अंतिम लक्ष्य की ओर ले जाती है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है, बल्कि दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। तत्कालीन समाज में शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर किया जाता था। नारद जैसे विद्वान समस्त शास्त्रों के ज्ञाता थे, किंतु आत्मज्ञान के अभाव में उन्हें सनत्कुमार के पास जाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल ग्रंथों का ज्ञान पर्याप्त नहीं, आत्मानुभूति अनिवार्य है।

वैदिक वाङ्मय से यह भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान अर्जन नहीं था। ब्रह्मचर्याश्रम में निर्धारित जीवनचर्या और शिक्षण प्रणाली से व्यक्ति का चरित्र दृढ़ बनता था। शिक्षा का वातावरण सादा, पवित्र और अनुशासित रखा जाता था। विद्यार्थी आत्मसंयम और आत्मनियंत्रण के साथ जीवन व्यतीत करते थे तथा सदाचार को अपने आचरण में उतारते थे। इस प्रकार का प्रशिक्षण व्यक्ति को जीवन की कठिन और अनिश्चित परिस्थितियों में भी विवेकपूर्ण और स्थिर बने रहने की शक्ति देता था। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा प्रणाली व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष पर नहीं, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा—चारों के समन्वित और उन्नत विकास पर केंद्रित थी। यही वैदिक शिक्षा का मूल उद्देश्य और उसकी स्थायी विशेषता थी।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उसमें 'मौखिक परंपरा' को सर्वोच्च महत्व दिया गया था। शिक्षा का मुख्य आधार स्मृति-शक्ति थी, इसलिए विद्यार्थियों की याददाश्त को सशक्त बनाने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। आचार्य मौखिक रूप से उपदेश देते थे और छात्र उन्हें ध्यानपूर्वक सुनकर कंठस्थ कर लेते थे। वेदाध्ययन में यह परंपरा विशेष रूप से प्रचलित थी, इसी कारण वेदों को 'श्रुति' कहा गया। वेद-मंत्रों का शुद्ध उच्चारण अत्यंत आवश्यक माना जाता था और अशुद्ध पाठ को गंभीर दोष समझा जाता था। इसी शुद्धता को बनाए रखने के लिए संहिता-पाठ, पद-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ जैसी जटिल पाठ-परंपराओं का विकास हुआ, ताकि वेदों का सस्वर और अक्षुण्ण रूप सुरक्षित रह सके।

वेदों को केवल कंठस्थ करना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था, बल्कि उनके अर्थ और भाव को समझने पर भी पूरा बल दिया जाता था। निरुक्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति वेदों के अर्थ को जानता है, वह इस लोक में सुख का अनुभव करता है और ज्ञान के प्रभाव से पापों से मुक्त होकर श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन शिक्षा में स्मरण और अर्थ-विवेचन दोनों को समान महत्व दिया गया था।

हालाँकि इस पद्धति की एक सीमा यह भी थी कि एक आचार्य एक समय में अधिक विद्यार्थियों को शिक्षा नहीं दे पाता था। सामान्यत: एक गुरु के पास पंद्रह से बीस से अधिक शिष्य नहीं रहते थे। शिक्षण कार्य में वरिष्ठ छात्रों का सहयोग भी लिया जाता था। आचार्य के निर्देशन और निगरानी में वरिष्ठ विद्यार्थी कनिष्ठ छात्रों को पढ़ाने में सहायता करते थे। ऐसे छात्रों को 'वृहद्धतर' कहा जाता था। इससे शिक्षा-प्रक्रिया अधिक प्रभावी बनती थी और साथ ही प्रतिभाशाली छात्रों को अध्यापन-कला सीखने का अवसर भी मिलता था।

विदेशी यात्री इत्सिंग ने वलभी के शिक्षण-केंद्रों के संदर्भ में उल्लेख किया है कि वहाँ विद्यार्थी दो-तीन वर्षों तक अपने आचार्यों से अध्ययन करने के साथ-साथ अन्य छात्रों को पढ़ाने का कार्य भी करते थे। यही परंपरा 'तक्षशिला' में भी प्रचलित थी। वहाँ कुरु देश के राजकुमार सुतसोम, जो स्वयं वरिष्ठ ब्रह्मचारी थे, काशी के युवराज को शिक्षा देते थे। यह व्यवस्था शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी थी, क्योंकि इससे योग्य छात्रों में नेतृत्व, उत्तरदायित्व और शिक्षण-कौशल का विकास होता था।

मौखिक शिक्षा को प्रधानता दिए जाने के कारण आचार्यों के निवास ही शिक्षा-केंद्र बन जाते थे। किसी विद्वान आचार्य की कीर्ति सुनकर दूर-दूर से छात्र उनके पास अध्ययन के लिए आते थे। योग्य शिष्य

को विद्या प्रदान करना गुरुजन अपना नैतिक और धार्मिक कर्तव्य मानते थे। विद्यार्थी दीर्घ काल तक आचार्य के आश्रम या गुरुकुल में निवास करते थे और गुरु के सान्निध्य में बैठकर अध्ययन करते थे। इस व्यवस्था से गुरु-शिष्य के बीच गहरा आत्मीय संबंध स्थापित होता था। शिष्य न केवल ज्ञान प्राप्त करता था, बल्कि गुरु के जीवन और आचरण से भी सीखता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति केवल ज्ञान का हस्तांतरण नहीं थी, बल्कि व्यक्तित्व निर्माण और संस्कार-संवर्धन की समग्र प्रक्रिया थी।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में अध्ययन को सरल और प्रभावी बनाने के लिए ग्रंथों की रचना प्राय: 'पद्य रूप' में की जाती थी, जिससे विद्यार्थी उन्हें शीघ्र कंठस्थ कर सकें। यदि किसी शिष्य को किसी ऋचा या मंत्र को समझने में कठिनाई होती थी, तो आचार्य उसका अर्थ समझाकर विषय स्पष्ट कर देते थे। इस प्रकार स्मरण के साथ-साथ बोध पर भी विशेष बल दिया जाता था।

शिक्षण प्रक्रिया में तर्क, व्याख्या और संवाद को अत्यंत महत्व दिया गया था। दर्शन, न्याय और काव्य जैसे विषयों का अध्ययन बिना विचार-विमर्श और प्रश्नोत्तर के संभव नहीं था। गूढ़ आध्यात्मिक विषयों को सरल बनाने के लिए उदाहरणों और कथाओं का सहारा लिया जाता था। 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' की कथाएँ इसी शिक्षण शैली का स्पष्ट प्रमाण हैं।

शिष्य निर्भय होकर गुरु से प्रश्न करते थे और वाद-विवाद के माध्यम से विषय को गहराई से समझते थे। इससे उनकी वाक्शक्ति, तर्क-क्षमता और चिंतन-शक्ति का विकास होता था तथा गुरु को भी यह ज्ञात हो जाता था कि शिष्य ने विषय को कितनी गहराई से ग्रहण किया है। उपनिषदों और बौद्ध ग्रंथों में इस प्रकार की शिक्षण परंपरा के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार उस काल में शिक्षा मुख्यत: मौखिक होती थी और पुस्तकों का प्रयोग बहुत कम किया जाता था। इसी प्रकार ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारतीय आचार्य पहले सरल अर्थ समझाते थे, फिर भावार्थ और गूढ़ तत्व स्पष्ट करते थे। वे विद्यार्थियों को कर्मठ, अनुशासित और प्रगतिशील बनाते थे तथा मंदबुद्धि या विरक्त छात्रों को भी अध्ययन की ओर प्रेरित करते थे।

अथर्ववेद में आचार्य को ज्ञान का अथाह स्रोत माना गया है, जो शिष्य को स्थूल से सूक्ष्म और पृथ्वी से आकाश तक के रहस्यों का बोध कराता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति केवल ज्ञान प्रदान करने की प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि समग्र व्यक्तित्व के निर्माण का माध्यम थी।

शिक्षक सम्पूर्ण शैक्षणिक प्रक्रिया का केंद्रबिंदु होता है और शिक्षार्थी के व्यक्तित्व निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाता है। वह केवल विद्यार्थी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सामाजिक पृष्ठभूमि से निर्मित पाठ्यक्रम के माध्यम से समाज और राष्ट्र से भी जुड़ा होता है। इसी कारण शिक्षक का पद अत्यंत गौरवपूर्ण माना गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक जे. एफ. ब्राउन के अनुसार पाठ्यक्रम, विद्यालय-संगठन और शिक्षण-सामग्री तब तक निर्जीव हैं, जब तक शिक्षक अपने सजीव व्यक्तित्व से उनमें प्राण न फूँक दे।

हुमायूँ कबीर ने शिक्षक को राष्ट्र के भविष्य का निर्णायक बताया है और स्पष्ट किया है कि शिक्षा के पुनर्निर्माण की वास्तविक कुंजी शिक्षक की योग्यता और प्रतिबद्धता में निहित है। माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार भी शिक्षा की गुणवत्ता मुख्यत: शिक्षक के व्यक्तित्व, शैक्षिक योग्यता, व्यावसायिक प्रशिक्षण और समाज में उसकी स्थिति पर निर्भर करती है। विद्यालय की प्रतिष्ठा और समाज पर उसका प्रभाव अंतत: वहाँ कार्यरत शिक्षकों से ही निर्धारित होता है। इस प्रकार शिक्षक समाज की संस्कृति का प्रतिनिधि बनकर

उसके संरक्षण और संवर्द्धन का कार्य करता है।

प्राचीन ग्रंथों में शिक्षा के व्यापक स्वरूप का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार उस काल में वेद, वेदांग, उपनिषद, दर्शन, आयुर्वेद, धनुर्वेद, इतिहास और योग आदि प्रमुख अध्ययन-विषय थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को मुख्य विद्याएँ माना। मनु और याज्ञवल्क्य ने भी दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय और मीमांसा सहित अनेक विद्याओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार मिलिन्दपन्हो में राजा मिलिन्द को विविध कलाओं और विज्ञानों का ज्ञाता बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा बहुविषयी, गहन और जीवनोपयोगी थी, जिसमें शिक्षक की भूमिका सर्वोपरि मानी जाती थी।

प्राचीन भारतीय परम्परा में शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त व्यापक और बहुविषयी था। कालिदास ने चौदह विद्याओं का उल्लेख किया है, जिनमें चार वेद, छह वेदांग, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र सम्मिलित थे। आगे चलकर आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र जैसे उपवेदों को जोड़कर इनकी संख्या अठारह मानी जाने लगी। इस काल में स्मृतियों और महाकाव्यों का अध्ययन भी शिक्षा का अनिवार्य अंग था।

'दण्डी' के अनुसार पाठ्यक्रम में लिपियाँ, भाषाएँ, वेद-वेदांग, उपवेद, काव्य, नाट्य, व्याकरण, तर्क, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसशास्त्र तथा युद्धविद्या जैसे विषय सम्मिलित थे। 'वात्स्यायन' ने चौसठ विद्याओं का वर्णन किया, जिन्हें सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक माना गया।

'बाण' के अनुसार उस समय वेद, दर्शन, गणित, भूगोल, रसायन, भौतिकी, इतिहास, साहित्य और संस्कृति जैसे विषय पढ़ाए जाते थे। चीनी यात्री 'ईत्सिंग' लिखते हैं कि विद्यार्थी वेद, शास्त्र, दर्शन, तर्क, व्याकरण और काव्य का गहन अध्ययन करते थे, जबकि 'युवानच्वांग' के अनुसार शिक्षा का केन्द्र पंच-विज्ञान और उच्च स्तरीय अध्यायों का अध्ययन था।

ज्ञान के संरक्षण और प्रसार के लिए ब्राह्मण संघ या परिषदें कार्य करती थीं, जहाँ मेधावी विद्यार्थी वाद-विवाद और विचार-विनिमय के माध्यम से गूढ़ विषयों को समझते थे। ये परिषदें आधुनिक सेमिनारों के समान थीं और ज्ञानार्जन के साथ-साथ दार्शनिक चिंतन को भी प्रोत्साहित करती थीं।

वैदिक परम्परा में शिक्षा का वास्तविक आरम्भ 'उपनयन संस्कार' से माना जाता था। इससे पहले बालक को केवल अक्षर-ज्ञान और सामान्य शब्दपरिचय कराया जाता था, परन्तु वेदाध्ययन का अधिकार उपनयन के पश्चात् ही प्राप्त होता था। यह संस्कार इस विश्वास पर आधारित था कि शिक्षा केवल बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि उसके लिए एक विशेष अनुशासित और संयमित आचरण आवश्यक है। उपनयन द्वारा बालक को उसी विशिष्ट जीवन-पद्धति में दीक्षित किया जाता था, जो उसे वेदों के अध्ययन के योग्य बनाती थी। इस प्रकार भारतीय शिक्षा को एक क्रमबद्ध, स्थिर और धार्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ। द्विजाति वर्ग के लिए यह संस्कार अनिवार्य माना गया था और इसके अभाव में व्यक्ति को व्रात्य या सामाजिक दृष्टि से पतित समझा जाता था। सामान्यतः यह संस्कार आठ से बारह वर्ष की आयु के बीच सम्पन्न होता था, यद्यपि सूत्र साहित्य में विभिन्न वर्णों के लिए आयु, ऋतु और समय का अलग-अलग उल्लेख मिलता है।

उपनयन का शाब्दिक अर्थ है—गुरु के समीप ले जाना। शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से शिष्य का गुरु के पास जाना ही इस संस्कार का मूल भाव था। प्रारम्भिक काल में यह अपेक्षाकृत सरल प्रक्रिया थी, जिसमें इच्छुक विद्यार्थी हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाता और उनके आश्रम में रहकर अध्ययन करने

की प्रार्थना करता था। समय के साथ-साथ यह संस्कार अधिक विधिवत और विस्तृत होता गया तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लिए अनिवार्य बना दिया गया। उपनयन के शैक्षिक और आध्यात्मिक स्वरूप का विस्तृत वर्णन 'छान्दोग्य उपनिषद्' में प्राप्त होता है।

संस्कार के समय स्नान कर शुद्ध हुए बालक को कौपीन धारण कराई जाती थी और तीन सूत्रों से बनी मेखला बाँधी जाती थी, जिन्हें तीनों वेदों का प्रतीक माना जाता था। ऊपरी शरीर को उत्तरीय से ढककर यज्ञवेदी के पास ले जाया जाता था, जहाँ विद्या, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अग्निदेव का आह्वान किया जाता था। शिला पर खड़ा होना ज्ञान-प्राप्ति के दृढ़ संकल्प का संकेत माना जाता था। इसके पश्चात् गुरु शिष्य को स्वीकार करता था और उसे गायत्री मंत्र का उपदेश देता था। दण्ड धारण कर ब्रह्मचर्य जीवन का आरम्भ होता था, जो संयम, सेवा और अध्ययन पर आधारित जीवन-पद्धति का प्रतीक था।

प्राचीन भारतीय वैदिक शिक्षा का स्वरूप मूलतः आदर्शवादी था, इसी कारण उसके शैक्षिक मूल्य स्थायी और जीवनोपयोगी थे। यह शिक्षा केवल भौतिक उन्नति तक सीमित नहीं थी, बल्कि आत्मविश्वास, व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास तथा नैतिक और आध्यात्मिक उन्नयन को अपना प्रमुख लक्ष्य मानती थी। वैदिक ऋषि बुद्धि के शुद्ध और सद्मार्गी विकास के लिए निरन्तर ईश्वर से प्रार्थना करते थे— 'धियो यो नः प्रचोदयात्', जिससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा को दिव्य प्रेरणा से जोड़ा गया था।

चारों वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए अध्ययन अनिवार्य माना गया था। इसका आशय यह भी था कि जो व्यक्ति शिक्षा से विमुख रहता है, वह सामाजिक दृष्टि से हीन समझा जाता था। वैदिक परम्परा में देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण—इन तीन ऋणों की अवधारणा थी, जिनमें ऋषिऋण से मुक्ति केवल स्वाध्याय और अध्ययन-अध्यापन से ही सम्भव थी। गृहस्थ जीवन में पंचयज्ञों में ऋषियज्ञ का स्थान स्वाध्याय को प्राप्त था। सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया, जिनमें प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य केवल विद्या-अर्जन और ज्ञान-साधना था। इसी आश्रम में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास पर विशेष बल दिया जाता था। सोलह संस्कारों में उपनयन संस्कार का महत्व इसलिए सर्वोपरि था क्योंकि वही बालक को वेदाध्ययन के योग्य बनाता था।

शिक्षा की दृष्टि से उपनिषद् युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। इस काल की शिक्षा जीवन-मूल्यों से गहराई से जुड़ी थी और सत्य की खोज इसका केन्द्रीय तत्व थी। सभी प्रमुख उपनिषदों में सत्य को सर्वोच्च और सार्वभौम तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में सत्य के साक्षात्कार की योग्यता उत्पन्न करना था। इसी कारण शिक्षा में आचरण और चरित्र को विशेष महत्व दिया गया। आचार्य शिष्य को स्वीकार करने से पहले उसके शील, संयम और जिज्ञासा की परीक्षा लेते थे। यदि कोई जिज्ञासु योग्य नहीं पाया जाता, तो उसे तप और ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की प्रेरणा दी जाती थी और योग्य होने पर उपनयन द्वारा ब्रह्मचर्य जीवन में प्रविष्ट कराया जाता था।

विद्यार्थी अपनी सम्पूर्ण शिक्षा अवधि गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था। प्राकृतिक, शांत और पवित्र वातावरण में ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं के सान्निध्य में उसका स्वाभाविक विकास होता था। गुरुकुलों की आर्थिक व्यवस्था समाज और राज्य द्वारा की जाती थी। आचार्य उच्च नैतिक चरित्र, सामाजिक प्रतिष्ठा और निःस्वार्थ जीवन के प्रतीक होते थे। विद्यार्थियों में श्रद्धा को अनिवार्य गुण माना गया है, जिसका उल्लेख प्रश्नोपनिषद में विशेष रूप से मिलता है। सेवा और श्रम को भी शिक्षा का अभिन्न अंग माना गया। गुरुकुलों

में सभी छात्रों के साथ समान व्यवहार किया जाता था और उनकी रुचि तथा क्षमता के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती थी।

प्राचीन भारतीय चिंतन में शिक्षा का परम लक्ष्य केवल धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति तक सीमित नहीं था, बल्कि उसके माध्यम से परम आनन्द और परम सत्य की अनुभूति को सर्वोच्च माना गया था। शिक्षा का अंतिम उद्देश्य उस परम तत्व का साक्षात्कार कराना था, जो जीवन का मूल आधार है। यह कार्य वही गुरु कर सकता है, जिसने स्वयं उस सत्य को जाना, अनुभव किया और अपने जीवन में उतारा हो। सत्य को जान लेना अपेक्षाकृत सरल है, परन्तु उसे दूसरों तक उसी रूप में पहुँचाना केवल उसी के लिए सम्भव है, जो सत्य की साधना में तल्लीन रहा हो। इसी भाव को उपनिषदों में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' के रूप में व्यक्त किया गया है, अर्थात् वही व्यक्ति सत्य को भलीभाँति जानता है जिसे योग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो। गुरु का स्वयं सत्यनिष्ठ, अनुभवी और श्रुति-परम्परा से जुड़ा होना अनिवार्य माना गया, क्योंकि जिसके भीतर स्वयं ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित हो, वही दूसरों में उसे प्रज्वलित कर सकता है।

इसी कारण भारतीय परम्परा में धर्म-शिक्षा को अनिवार्य स्थान दिया गया। शिक्षा का प्रमुख बल सदाचार और चरित्र-निर्माण पर था। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा ग्रहण करना जीवन का आदर्श लक्ष्य माना गया। यह विश्वास था कि यदि किसी व्यक्ति ने समस्त वेदों का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया हो, परन्तु उसमें सदाचार और सच्चरित्रता का अभाव हो, तो वह समाज में सम्मान का अधिकारी नहीं बन सकता। इसके विपरीत, जो व्यक्ति केवल गायत्री मंत्र के मर्म को समझकर सदाचरण का पालन करता है, वही पूजनीय और आदरणीय माना जाता है।

शिक्षा की पूरी अवधि में गुरुजन छात्र के आचरण को उन्नत करने का निरन्तर प्रयास करते थे। उनके द्वारा सहिष्णुता, सौहार्द, सत्यनिष्ठा, संयम और व्यवहार-कुशलता जैसे गुणों का विकास कराया जाता था। इससे छात्र का चरित्र सुदृढ़ और पवित्र बनता था तथा वह नैतिक जीवन-मूल्यों को आत्मसात करने में समर्थ होता था। विद्यार्थी जीवन में प्राप्त शिक्षा ही उसके भावी जीवन की दिशा निर्धारित करती थी और वही सुख, उन्नति, प्रतिष्ठा तथा सामाजिक सम्मान का आधार बनती थी।

वेदों में शिक्षा के परम लक्ष्य को 'सरस्वती' के प्रतीक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। सरस्वती को विद्या की देवी कहा गया है, जिनका अर्थ निघण्टु में 'ज्ञान को प्रवाहित करने वाली वाणी' बताया गया है। श्री अरविन्द ने सरस्वती को अन्तःप्रेरणा, स्फूर्ति और उत्साह की अधिष्ठात्री शक्ति माना है। वैदिक दृष्टि में सरस्वती केवल पुस्तक-ज्ञान की देवी नहीं हैं, बल्कि समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री हैं—वे अस्त्रविद्या प्रदान करने वाली, जीविका और समृद्धि देने वाली तथा रोगों के नाश हेतु चिकित्सा-विज्ञान की प्रेरक शक्ति भी हैं। वे सावित्री के रूप में जीवनदायिनी, गायत्री के रूप में पवित्रता प्रदान करने वाली और संध्या के रूप में ध्यान व धारणा को विकसित करने वाली मानी गई हैं। इस प्रकार सरस्वती ज्ञान, बल, धन, अन्न और सद्बुद्धि सभी प्रकार की समृद्धियों का प्रतीक हैं, जो साधक को शुद्ध, समृद्ध और यज्ञभाव से युक्त बनाती हैं।

आधुनिक शिक्षाविद् जे. एस. मैकेंजी के अनुसार व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसका विस्तार होता रहता है। इसी भावना के अनुरूप भारतीय परम्परा यह मानती है कि जहाँ बुद्धि का विकास होता है, वहीं से शक्ति, सामर्थ्य और

उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है।

निष्कर्षतः वैदिक शिक्षा–पद्धति जीवन से जुड़ी, उद्देश्यपूर्ण और सर्वांगीण विकास पर आधारित थी। इसका लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति नहीं, बल्कि चरित्र–निर्माण, नैतिक शुद्धता, बौद्धिक प्रखरता और आध्यात्मिक उन्नयन था। शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था, जिससे अनुशासन, ब्रह्मचर्य और सदाचरण का संस्कार उत्पन्न होता था। गुरुकुल प्रणाली में गुरु जीवन–मार्गदर्शक था और शिक्षा मौखिक, तर्कपूर्ण तथा संवादात्मक पद्धति से दी जाती थी। उपनिषद् युग में शिक्षा का परम लक्ष्य सत्य की अनुभूति और आत्मसाक्षात्कार माना गया। अपरा और परा विद्या के समन्वय से लौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन में संतुलन स्थापित किया गया।

अतः वैदिक शिक्षा को जीवनपर्यन्त चलने वाली साधना माना गया, जिसकी पूर्णता मुक्ति में है। इसके मूल्य यदि आधुनिक शिक्षा में अपनाए जाएँ, तो वे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *डॉ. भास्कर मिश्र, वैदिक शिक्षा मीमांसा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1991*
2. *कृष्ण कुमार, भारत की प्राचीन शिक्षा–पद्धति, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2008*
3. *देवेन्द्र कुमार गुप्ता, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, प्रथम संस्करण, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 2004*
4. *डॉ. (श्रीमती) उर्मिला आनन्द, वैदिक वाङ्मय में शिक्षा का स्वरूप एवं प्रशिक्षण विधि : मुख्य उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में, पावमानी (त्रैमासिक शोध–पत्रिका), गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोलाझाल, मेरठ, एकादश वर्ष, द्वितीय अंक, अप्रैल–जून 1996*
5. *डॉ. अवतार कृष्ण गुर्टू, वैदिक वाङ्मय में शिक्षा का स्वरूप एवं शिक्षण विधि, पावमानी (त्रैमासिक शोध–पत्रिका), गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोलाझाल, मेरठ, 1996*
6. *श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र (व्याख्याकार), पाणिनीय शिक्षा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी*
7. *कल्हण, राजतरंगिणी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी*
8. *वेदव्यास, महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर*
9. *मनु, मनुस्मृति, अनुवादक– श्री अरिगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1979*
10. *याज्ञवल्क्य, याज्ञवल्क्यस्मृति, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी*
11. *गौतम, गौतम धर्मसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी*
12. *बृहस्पति, बृहस्पति स्मृति, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी*
13. *वात्स्यायन, कामसूत्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी*
14. *दण्डी, दशकुमारचरित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी*

15. बाणभट्ट, हर्षचरित एवं कादम्बरी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी
16. कालिदास, रघुवंश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
17. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी
18. इत्सिंग, *Records of the Buddhist Religion*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
19. फाह्यान, *A Record of Buddhist Kingdoms*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
20. थॉमस वाटर्स, *On Yuan Chwang's Travels in India*, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन
21. जॉन स्टुअर्ट मिल, *On Education*, लॉन्गमैन्स ग्रीन एंड कंपनी, लंदन
22. जे. एस. मैकेंजी, *Outlines of Social Philosophy*, मैकमिलन एंड कंपनी, लंदन
23. हुमायूँ कबीर, *Education in India*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे
24. श्री अरविन्द, *The Secret of the Veda*, श्री अरविन्द आश्रम प्रेस, पुदुचेरी